

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।



धर्मः स्वयुक्तिः पुंसो विष्वक्सेन कथामुद्यः।

गोत्पादयेद्य यदि रति शम एव वै केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

मर्योत्कृष्ण धर्म है वह जो आत्माको आनन्द प्रदायक । सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीतिसे पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य श्रेति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यथ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १७

गीराब्द ४८६, मास—मधुसूदन १६, वार—वासुदेव,
रविवार ३१ वैशाख, सम्बत् २०२६, १४ मई, १९७२

संख्या १२

मई १९७२

श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि

जरासन्धकारागारान्मुक्तानां नृपतिनां श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत १०।७।३।८-१६)

नमस्ते देवदेवेश प्रपञ्चात्तिहराव्यय ।

प्रपञ्चान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥८॥

जरासन्ध द्वाया पराजित एवं कारागारमें आवद्ध राजाश्रोते गिरिवज्रसे बाहर निकलने पर अपने सामने अद्भुत रूप-लावण्य युक्त भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया । श्रीकृष्णदर्शन द्वारा उत्पन्न परेम आनन्दसे परिपूर्ण होकर उन्होंने सभी दुःखोंका परित्याग कर दिया । तदनन्तर वे इस प्रकार श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे —

हे देवदेवेश ! शरणागतदुःख हरणकारी ! हे अव्ययस्वरूप ! हम आपको प्रणाम करते हैं । हे श्रीकृष्ण ! हम लोग अत्यन्त खिल चित्त होनेके कारण आपके शरणागत हो रहे हैं । आप हमें घोर संसार-बन्धनसे परिव्राण करें ॥६॥

नैनं नाथानुसूयामो मागधं मधुसूदन ।

अनुग्रहो यद्भूवतो राजां राज्यच्छुतिविभो ॥६॥

हे प्रभो ! हे मधुसूदन ! हम इस जरासन्धके ऊपर किसी प्रकारका दोषारोप नहीं करते । क्योंकि राजाओंकी अपने राज्यसे विच्छुति आपका अनुग्रहस्वरूप वरदान ही है ॥६॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नदो न शेयो विन्दते नृपः ।

त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥१०॥

राजा लोग राज्यैश्वर्यसे उत्पन्न मदोन्मत्तताके कारण उच्छ्रृङ्खलचित्त होकर अपने कल्याणमार्गको प्राप्त कर पाते एवं आपकी मायासे मोहित होकर अनित्य ऐश्वर्यसमूह को हो स्थिर कहकर निर्दीरण करते हैं ॥१०॥

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशन्धम् ।

एवं वैकारिकों मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥११॥

अबुध व्यक्ति जिस प्रकार मरीचिकाको जलाशय समझ लेते हैं, उसी प्रकार अविवेकी व्यक्ति भी विकारप्रस्ता मायाको ही सदृवस्तु रूपसे दर्शन किया करते हैं ॥११॥

वयं पुरा श्रीमदनष्टृष्ट्यो जिगीषयास्या इतरेतरस्मृधः ।

छन्नतः प्रजाः स्वा अतिनिर्दृष्टाः प्रयो मृग्यु पुरस्त्वाविगणन्य तुमंदाः ॥१२॥

त एव कृष्णाद्य गमीररंहसा दुरन्तवीयेण विचालिताः श्रियः ॥

कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टवर्षाश्चरणी स्मराम ते ॥१३॥

हे प्रभो ! पूर्वकालमें हम लोगोंने ऐश्वर्यमदान्ध एवं तुरभिमानयुक्त होकर समुखस्थ मृत्युरूपी आपकी गणना न कर ही इस पृथिवीकी विजयकामनासे परस्पर स्पदशीलता एवं अत्यन्त निर्दयताके साथ अपनी प्रजाओंका विनाश किया है । हे कृष्ण ! वे ही हम इस समय अलक्ष्यगति एवं दुर्लभ्य प्रभावयुक्त कालद्वारा राज्यभ्रष्ट होकर एवं आपके कृपाबलसे हतगर्व होकर आपके श्रीचरणयुगल का स्मरण कर रहे हैं ॥१२-१२॥

अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहैन शश्वत् पतता इजां भुवा ।

उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥१४॥

हे विभो ! इसके पश्चात हम लोग पुनः प्रतिक्षण क्षीयमान एवं रोगसमूहके आकरस्वरूप इस शरीरद्वारा उपासनीय और मरीचिकातुल्य राजत्व या जो केवल श्रवण करनेमें ही कानोंके लिए रुचिजनक है, ऐसे पारलौकिक स्वर्गादि मुखभोगकी कामना नहीं करते ॥१४॥

तं नः समादिशोपायं देन ते चरणाद्वज्योः ।

स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

अतएव इस संसारमें नाना योनियोंमें निरन्तर भ्रमण करते समय हमारे हृदयसे आपके पादपद्मयुगलकी स्मृति विलुप्त न हो, यही उपाय आग हमें बतलाइये ॥१५॥

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ॥

प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

हे प्रभो ! हम प्रणत व्यक्तियोंके दुःख हरणकारी, गोविन्द, परमात्मरूप, वासुदेव, श्रीहरि एवं श्रीकृष्णस्वरूप आपको नमस्कार कर रहे हैं ॥१६॥

॥इति जरासन्धकारागारान्मुक्तानां नृपतिनां श्रीकृष्णस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

इति जरासन्धके कारागारसे मुक्त राजाओंका श्रीकृष्णस्तोत्र सम्पूर्ण ॥

मदनमोहनका अलौकिक रूप

बैठी कहा, मदनमोहन की सुन्दर बदन बिलोकि ।
जा कारन धू॒धट पट, अब लौ॑ अ॒लियाँ राखौ॑ रोकि ॥
फबि रहि मोर चन्द्रिका माथे, छबि की उठति तरंग ।
मनौ अमर पति धनुष विराजत, नव जलधरके संग ॥
रुचिर चाह कमनीय भाल पे, कुंकुम तिल दिये ।
मानौ अलिल भुवनकी सोभा, राजति उदे किये ॥
मनियं जरित लोल कुंदल की आभा झलकति गंड ।
मनौ कमल ऊपर दिनकर की पसरी किरन प्रचंड ॥
धकुटि कुटिल निकट नेननि के चपल होति हि भाँति ।
मनौ तामरसके संग खेलत बाल भूंग की पाँति ॥
कोमल स्याम कटिल बलकावलि ललित कपोलन तीर ।
मनौ सुभग इवोबर ऊपर मधुपनि की अति भीर ॥
अरुन अधर नासिका निकाई बदत परसपर होड़ ।
सूर सुमनसा भई फाँगुरी निरारो डगमगे गोड़ ॥
(भक्तप्रबर सूरदासजी)

श्रीनाम-संकीर्त्तन

श्रीशिक्षाष्टकमें श्रीमन्महाप्रभुका शिक्षा-सार पाया जाता है। श्रीमन्महाप्रभुने अर्चन शिक्षा करने की बात नहीं कही, परन्तु उन्होंने श्रीशिक्षाष्टकमें श्रीनाम-भजन करने की ही शिक्षा दी है। उन्होंने पहले कहा—“श्रीकृष्णके नामकी सम्यग् प्रकार से कीर्त्तन करने की आवश्यकता है।” नाम-नामी अभिज्ञ हैं—यह बात भी उन्होंने कह दी। जब किसी भी वस्तुका सम्यग् प्रकारसे कीर्त्तन किया जाता है, तब उस वस्तुका विश्लेषण कर देखा जाता है। भगवानके नाम, रूप, गुण, परिकर-वैशिष्ट्य और लीला—ये पाँचों वस्तुएँ ही “श्रीनाम” हैं। भगवद्विग्रह श्रीनामके भीतर ही सभी (नाम, रूप, गुण, लीला आदि) विराजमान हैं। ग्रहणकारी के लिए परम्पर में नाम और रूपमें, नाम और गुणमें, नाम और लीलामें, इत्यादि) वैशिष्ट्य और वैचित्र्य रहने पर भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं है (अर्थात् नामसे रूप, नामसे गुण, नामसे लीला या नामसे परिकरवैशिष्ट्य भिन्न वस्तु नहीं है)।

यदि कोई सोचे—‘मैं भगवानका रूप दर्शन करूँगा’, तो से यह जानना होगा कि ये जड़ीय आँखें भगवानके रूपका दर्शन नहीं कर सकती। ‘चक्षु’ इन्द्रिय द्वारा ग्रहणीय जो रूप है, वह भोगकी वस्तु है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भोक्ता हैं, वे भोग्य वस्तु नहीं हैं। भोग्य वस्तु द्वारा इन्द्रिय-तर्पण होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—भगवद्वस्तु

इम आँखों द्वारा देखे जाने योग्य वस्तु नहीं हैं। जो वस्तु इन आँखों द्वारा देखा जाय वह ‘भगवानका रूप’ नहीं है।

श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णनाम-दोनों अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। विभिन्न भावसे प्रतीत तथा विभिन्न भावसे ग्राह्य होने पर भी कृष्णके रूप, गुण, परिकरवैशिष्ट्य, लीला—सभी ही ‘श्रीनाम’ हैं। जड़जगतकी वस्तुओंमें नाम और नामी का पार्थक्य देखा जाता है, किन्तु अप्राकृत श्रीकृष्णनामके सम्बन्धमें ऐसा नहीं है। अतएव श्रीगोस्सुन्दरने कहा है—“श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन ही हमारा एकमात्र ‘अभिधेय’ हो।”

श्रीकृष्ण + संकीर्त्तन = श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन। श्रीकृष्ण = श्री + कृष्ण। श्री = लक्ष्मी अर्थात् सर्वलक्ष्मीगणकी अंशिनी श्रीमती गान्धर्वा राधिकाजी। अतएव श्रीकृष्ण कहने से श्रीमती राधिकाके साथ गिरिधर वजेन्द्रनन्दन। सभी मिलित होकर जो कीर्त्तन हो, वही संकीर्त्तन है, अथवा ‘सम्यक् कीर्त्तन’ कहने से ‘तंकीर्त्तन’ अर्थात् श्रीकृष्णकी तभी बातों का कीर्त्तन अथवा नाम, रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य एवं लीला-कीर्त्तन का नाम ही ‘संकीर्त्तन’ है। वही संकीर्त्तन सर्वोपरि विशेषरूपसे जययुक्त हो।

साधन-भक्तिमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-

निवेदन—इस नवधा भक्तिकी बात वर्णित है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें जिस चौसठ प्रकारके भक्ति अंगोंकी बात कही गई है, वे सभी भक्त्यंग इस नवधा भक्तिकी ही वित्ति स्वरूप हैं। उबत चौसठ प्रकारके भक्त्यंगोंमें पौच अंगोंको सर्वथेष्ट बतलाया गया है—

साधुसंग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण।
मथुरा-वास, श्रीमूलिर श्रद्धाय सेवन ॥
सकल-साधन-थेषु एइ पञ्च अंग ।
कृष्णप्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प संग ॥
(च० च० मध्य, २२ वाँ प०, १२५-१२६)

इस थेषु साधन-पञ्चकका विचार करने पर देखा जाता है कि उसमें भी 'श्री नाम-भजन' ही सर्वमूल है एवं सर्वोपरि वे जययुक्त हो रहे हैं। श्रीनामपरायण या श्रीनाम-संकीर्तनकारी साधुओंके मंग द्वारा श्रीनाम-भजनमें रुचि उदय करानेके लिए ही 'साधुसंग' की बात कही गई है। श्रीमद्भागवतमें एकमात्र श्रीनामभजन को ही 'परधर्म' कहकर कीर्तन किया गया है—

एतदानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तत्रामप्रहृणादिभिः ॥

(भा० ६। ३। २२)

श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य एवं अन्त में श्रीनाम-संकीर्तनकी बात ही पुनः पुनः उपदिष्ट हुई है। 'मथुरावास' अर्थात् श्रीधाम वासके मूलमें भी नाम-भजनका उद्देश्य अन्तिनिहित है। नामात्मक अस्मितामें वास या जिस स्थानमें नाम-संकीर्तनकारी साधुओंका समागम हो, उस स्थानमें वास ही 'श्रीधाम-वास' है। भगवन्नामात्मक मन्त्रके

द्वारा ही एवं भगवन्नाम-कीर्तन मुखसे ही श्रीमूलिकी सेवा होती है, अतएव श्रीनाम-कीर्तन ही सर्वोपरि जययुक्त हो रहे हैं। एकमात्र श्रीनाम-संकीर्तन द्वारा ही सर्वसिद्धि होती है—

भजनेर मध्ये थेषु नवधा भक्ति ।
कृष्णप्रेम, कृष्ण दिले धरे महाशक्ति ॥
तार मध्ये सर्वथेषु 'नाम-संकीर्तन' ।
निरपराधे नाम लेले पाय प्रेमधन ॥
(च० च० अत्य ४ प०, ७०-७१)

सातवत-स्मृतियोंमें वर्णित सहूल प्रकारके या चौसठ प्रकारके भक्त्यंगोंमें श्रीनाम-संकीर्तनकी ही सर्वथेष्टा है। नाम-संकीर्तनरूपी यज्ञके द्वारा ही रार्व प्रकारका मंगल प्राप्त होता है। नाम संकीर्तनमें ही नवधा भक्ति सम्पूर्ण रूपसे वर्तमान है। श्रवण, कीलन, रमरण, वन्दना आदि समस्त ही श्रीनाम-संकीर्तनके अन्तर्भुक्त हैं। अभिधेय-विचारसे अचिन्त्य-मेदाभेद सिद्धान्त प्रचारलीलाभिनयकारी जगद्गुरु श्रीगौरकृष्ण-संकीर्तन हृष्णता जनित्राप यही है कि 'श्रीकृष्ण-संकीर्तन' ही एकमात्र अभिधेय है।

जो व्यक्ति कीर्तनाल्या भक्त्यंग साधन करते हैं, वे ही सभी मंगल प्राप्त करते हैं। जो कृष्णकीर्तन करेंगे, पहले उन्हें श्रवण करना आवश्यक है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनके अन्तर्भुक्त ही सभी प्रकारकी साधन-प्रणाली वर्तमान है, ऐसी सुहृदा निष्ठा जिनके हृदय में उद्दित हुई है, वे यह जानते हैं कि श्रीकृष्ण-संकीर्तन ही साधन-शिरोमणि है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनके अभ्यन्तरमें विभिन्न साधन-

प्रणाली वर्त्तमान है। नवधा भक्तिके सम्बन्धमें भक्ति-सन्दर्भमें कहा गया है—यद्यपिऽन्या भक्तिः कलौ कर्तव्या, तदा कीर्तनाख्या भक्तिसंयोगेनैव कर्तव्या ।' श्रीचैतन्य चरिता-मृतमें (मध्य २२ प०, १२६-१३०) —

एक अंग साधे, केह साधे बहु अंग ।
निष्ठा हैते उपजय प्रेमेर तरंग ॥
एक अंगे सिद्धि पाइल बहु भक्तगण ॥

बहु-अंग साधनमें श्रीकृष्णसंकीर्तन ही श्रेष्ठ है। जहाँ शास्त्रोंमें एकाङ्ग साधनकी बात कही गई है, वहाँ भी श्रीकृष्णकीर्तन ही लक्षित वस्तु है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनको छोड़कर मथुरा-वास, साधु-संग आदि कोई भी अंग परिपूर्ण नहीं होते, किन्तु यदि केवल श्रीकृष्ण-संकीर्तन किया जाय, तो उसीके द्वारा मथुरा-वास, साधुसंग, श्रीमूर्तिकी शब्दापूर्वक रोवा, भागवत-शब्दण आदिका फल पूर्णरूपसे पाया जाता है। नाम-भजनसे ही जीवोंकी भवंसिद्धि होती है। एकांग नाम-संकीर्तन द्वारा सर्वसिद्धि प्राप्त होती है। पौचोंके अत्यसंगके जिम किसी एकमें श्रीनाम-संकीर्तनकी बात अन्तभूत है। श्रीकृष्णके वसतिस्थल श्रीधाममें वास करने पर श्रीनाम-संकीर्तन व्यतीत दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है। श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय नाम-संकीर्तन है। श्रीमद्भागवतके शब्दण-कीर्तन द्वारा जीव अनर्थमुक्त होकर परम प्रयोजन-प्राप्तिके अधिकारी होते हैं। मुक्त पुरुषोंके लिए भी श्रीनाम-संकीर्तनको छोड़कर दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है।

श्रीमद्भागवतके शब्दण-कीर्तन-चिन्तन फलसे जीव मुक्त होते हैं। श्रीमद्भागवत

कीर्तन कलसे जीव 'हरिकीर्तन' करनेकी शिक्षा प्राप्त करते हैं, अर्चनके द्वारा (अर्चनमें जो नामात्मक मंत्रकी व्यवस्था है एवं मंत्रमें नामके साथ जो चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त है, उसकेद्वारा जीव संकीर्तन करनेकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। जो मंत्रोच्चारणकारी हैं, वे अपनेको श्रीनामके पादपद्ममें समर्पण करते हैं। जिस समय उन्हें मत्रसिद्धि प्राप्ति होती है, उसी समयसे उनके मुखमें सर्वदा हरिनाम नृत्य करते रहते हैं—

येन जन्मशर्तः पूर्वं वासुदेवः समचितः ।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ॥
(ह० भ० वि० धृत शास्त्र वाक्य)

हे भरतवंशावतंस ! जो पहलेके संकड़ों जन्मोंमें वासुदेवका सम्प्रयग् प्रकारसे अर्चन किये हैं, उनके मुखमें ही श्रीहरिके नामसमूह नित्यकाल विराजमान रहते हैं।

यदि हम लोग वैष्णव या श्रीकृष्णके संकीर्तनकारी-संघके विहारस्वरूप शुद्धभक्ति मठके अधिवासीकी सेवासे विमुख होकर केवल अर्चन-पथके पथिक हो, तो हमारा शृण्यार्थं प्रगल्भ अत्यन्त मुहूर्में बच्च मान है। श्रीमद्भागवत-पाठ मठवासियोंका कर्तव्य है। मायिक ब्रह्माण्डमें केवल आत्मेन्द्रिय-तृप्ति की बात है। किन्तु भक्तिमठमें कृष्णेन्द्रिय-पर्यण-चेष्टामें ही सभी व्यस्त हैं। वहि प्रजा द्वारा चालित होकर यदि कोई व्यक्ति मठ-वासियोंमें अपनी ही तरह इन्द्रिय-चालन एवं निजेन्द्रिय-तपर्यण-चेष्टाकी तरह व्यवहारादि देखे, तो वह अक्षज ज्ञान-प्रमत्त द्रष्टाका ही विवर्तमात्र है। जिन-जिन वस्तुओंद्वारा हरिसेवा होती है, वे सभी वस्तुएँ ही मठमें हैं। मठवासियोंकी सेवा

करनेसे ही श्रीनाममें अधिकार प्राप्त होगा। मठवासी लोग सर्वतोभावसे सर्वेन्द्रियद्वारा हरिसेवा करते हैं। उनके लिए हरिजन-सेवा को छोड़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है। जिन्हें 'हरिजन' के रूपमें अपनी उपलब्धि नहीं है, उनके निकट ही मठवासी वे सभी बातें कीर्त्तन करते हैं। जो लोग गृहस्थ हैं, वे भी यदि अपने हरिभजनद्वारा गृहप्रतीतिसे मुक्त होकर गोलोककी अस्मितामें वास कर सकें, यदि गृहके सदस्योंको अपने भोगोपकरणके रूपमें न जानकर कृष्णसेवोपकरणके रूपमें जान सकें, तो उनका भी मंगल होगा। यदि हम अपनी इन्द्रियोंको बाह्य जगतकी क्रियाओंमें नियुक्त रख, तो कदापि श्रीनाम-परायण नहीं हो सकते।

हमें नामपरायण करनेके लिए ही साक्षात् श्रीराधागोविन्द मिलिततनु श्रीमम्महाप्रभु आविभूत हुए थे। प्राप्तिक व्यक्ति लोग श्रीगोरसुन्दरको असंख्य भोगकी बरतुके अन्यतमरूपसे भोग करनेका प्रयास कर रहे हैं। वे लोग सोचते हैं कि दिव्यज्ञानकी बातें भी उनके इन्द्रियतंपणकी असंख्य भोग रागयीकी तरह हैं। यदि हम गाढ़ा-प्रदान भगवान् एवं भगवानके दासोंके साथ कर सकें, तो वणिक समाजके आदान-प्रदान-कार्यं या कर्मवादसे मुक्त हो सकते हैं। हम लोग बाह्य-जगतके रूप, गुण, विचित्रता दर्शनमें व्यस्त हैं! हम लोग बाह्य भनुभूतिमें व्यवृत हैं! यदि बाह्य रूप दर्शनोदिमें कृष्ण-सम्बन्ध देखा जाय, तब ही मंगल है, नहीं तो वह 'माया' है।

कृष्ण सेवामें जो सुख या दुःखका उदय हो, उस सुखके या दुःखके उदयसे बाध्य हो

जाने पर हम लोग नास्तिक या पौत्रलिंग हो जायेगे। हम जो चाहते हैं, जो हमें मनोऽभिलिप्ति सब वस्तुएँ दे सकते हैं, उन्हें ही हम बहुमानन करते हैं। संसारके जीव सभी ही आमदनी एवं खर्चमें व्यस्त हैं।

खानेकी कोई आवश्यकता नहीं, पान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, यदि कृष्ण-भजन नहीं करें। मनुष्य जन्म-प्राप्तिसे जो योग्यता प्राप्त हुई थी, वह भी न होना ही अच्छा था, यदि हरिभजन नहीं हुआ। यदि पशु जैसे खाना-पीना, विलास आदिमें ही मनुष्य जीवन व्यतीत हो जाय, तो जो योग्यता प्राप्त हुई थी, उसे तो खो ही दिया, इसके अलावा जन्म-जन्मान्तरकी अत्यन्त असुविधाके भीतर पड़ना हुआ। 'कृष्ण भजिवार तरे संसारे आइनु।' हरिभजन करनेके लिए पशु भी मनुष्य होते हैं।

कृष्णका सर्वोत्कृष्ट साधन 'संबीर्त्तन' है। और सभी साधन यदि कृष्ण-कीर्त्तन के अनुकूल या सहाय हो, तब ही उन्हें साधन कहा जायगा, नहीं तो वे सभी कुयोगी वैभव या साधनके ज्यापात मान होते हैं।

कर्मवादीका शरीर पिता-मातासे प्राप्त हुआ है। वर्तमानमें आमदनीके रूपमें नर्तमान शरीर अन्त समयमें आगमें जलाने पर खर्च हो जायगा। कर्मफलवादी आमदनीमें नाना विद्याबुद्धि संग्रह करते हैं, खर्चमें वह सब अन्त हो जाता है। संसारकी आमदनी-खर्च या कर्मफलवाद दो दिनका है। स्वर्ग सुखादि प्राप्ति ही बल है—ये सब बातें हम चिरदिनके लिए रख नहीं सकते। फूटे घड़े

में कर्मकलवादी लोग आमदनी कर रहे हैं, तथा उनके सन्तानादि हो रहे हैं। श्री-पुत्रोंको मरनेसे चिकित्सक व्यक्ति बचा नहीं पाते, ईश्वरकी वस्तु ईश्वर ले लेते हैं।

जो लोग हरिभजन नहीं करते, उनमें इस प्रकारकी बुद्धि या विचार कभी भी नहीं आता। हरिभजनको छोड़कर जीवोंका और कोई कर्त्तव्य नहीं है। बालक, बृद्ध, युवक, खी या पुरुष हो; पण्डित, धनी, दरिद्र, रूपवान् पुण्यवान् या पापी क्यों न हों, जिस किसी अवस्थामें क्यों न हो, उनकी और कोई साधन प्रणाली नहीं है, केवल 'श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तन' को छोड़कर।

"बहुभिर्मिलित्वा यत् कीर्त्तनं तदेव संकीर्त्तनम्"। अर्थात् बहुतसे लोग एकत्र होकर जो कीर्त्तन हो, उसीका नाम 'संकीर्त्तन' है। यदि मेरी तरह कुछ फालतू व्यक्ति मिलकर 'हो, हो' करते रहें, यदि चिल्लाकर पित-वृद्धि करें, तो क्या संकीर्त्तन करना होगा? जो लोग श्रीतपथ आश्रय किये हैं, उनके साथ यदि कीर्त्तन करूँ, तो ही 'हरि-संकीर्त्तन' होगा। महामारीके उपशम या व्यवसाय-वृद्धिके लिए कीर्त्तन या लाभ-पूजा प्रतिष्ठादिके लिए जो हरि कीर्त्तन-अभिनय हो, वह 'हरिसंकीर्त्तन' नहीं वह तो मायाका कीर्त्तन मात्र है।

हरिसेवक लोग कहते हैं—“हरिकी सेवा करो, और कुछ मत करो। हरिसेवा के नामपर अपना इन्द्रिय-तर्पण न करो। यह बात मनमें रखना कि कृष्णके इन्द्रिय-तर्पणका नाम ही 'सेवा' है। जिससे तुम्हारी अपनी बहिमुख इन्द्रिय-तृप्ति हो, वह सेवा नहीं है। उसे 'सेवा' समझनेसे तुम आत्म-वंचित हो गये।”

यदि हम हरिके यथार्थ सेवक या कीर्त्तनकारीके साथ योग दें, तो हमारा भी 'हरिसंकीर्त्तन' होगा। संश्वरण होने से ही संकीर्त्तन होगा। सम्यग्लूपसे कीर्त्तन करने की ही हमें आवश्यकता है। कृष्ण सम्यग् वस्तु है। वे हेय, खण्ड, अनुपादेय, असम्यग् या आंशिक वस्तु नहीं है। 'अमुक मिस्त्रीने तेयार किया है, मेरी आँखोंमें बहुत अच्छा जान पड़ता है,' इसका नाम—'मेरे भोगके कृष्णठाकुर' है। यह 'कृष्ण' नहीं है। मेरी आँखोंमें माया परदा डालकर मुझे कृष्णको देखने नहीं दे रही है। मेरे मनःकल्पित मेरे भोगकी वस्तु 'पुतली' देखकर कहता है—'यही कृष्ण ठाकुर है।' इस मायाकी बचनामें पड़कर कदापि यथार्थ कृष्णदर्शन नहीं होता। कृष्णके सम्यक् कीर्त्तनकारीके साथ जब तक कीर्त्तन नहीं करता तब तक माया नाना प्रकारसे मेरी बंचना करने की चेष्टा करती रहती है। जिसका हृदय अपना यथार्थ मंगल नहीं चाहता, जो लोग स्त्रयं अपनी बंचना करना चाहते हैं, उनके अनुगत होकर कीर्त्तन करने पर कोई मंगल नहीं होगा। वह माया का कीर्त्तन हो जायगा। माला-तिलक पारण किये हैं, हो 'हो' कर रहे हैं, गित्तवृद्धि कर रहे हैं, गुरुके निकट श्रवण नहीं किये हैं, कीर्त्तन करना नहीं जानते, उनके अनुगत होने पर संकीर्त्तन नहीं होगा।

और भी संकीर्त्तनके प्रतिबन्धक-कारी व्यक्ति हैं। वे लोग कहते हैं—'वेदान्त-वाक्येषु सदा रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।' अर्थात् सर्वदा ज्ञानवादकी चर्चा करनेवाले कौपीनधारी व्यक्ति भाग्यवान् हैं। और कोई कोई पतंजलि ऋषिके अनुगत होकर रेचक-

पूरकादि कर प्राणको आयाम या संयम करनेके विचारमें आबद्ध होते हैं। इस विचार द्वारा भी वे बाहरी जगतमें ही आबद्ध हो पड़ते हैं। सोचता हूँ कि निवृत्त होऊँगा। परन्तु साधुका जीवन पाना मेरे भाग्यमें नहीं हो पाता। जगतसे दूर रहनेकी इच्छा करता है, 'योग-पथ,' 'वेदान्त-पाठ' द्वारा यथार्थ मगल होनेकी बात सोचता हूँ, किन्तु इस प्रकारके त्याग का कल्पना या प्रच्छब्द भोग-लालसा हमारा परम श्रेयः नहीं ला सकती। अतएव ये सभी चेष्टाएँ 'अभिवेय' शब्द वाच्य नहीं हो सकतीं। अतएव जो व्यक्ति अवंवक हाकर जागतिक लोगोंके निकट निरपेक्ष सत्य-कथा कहते हैं, उन सभी महापुरुष लोगोंने कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डको विषका भाण्ड कहा है। उनके कथानुसार जो व्यक्ति इन्हें अमृत समझकर सेवन करते हैं, वे लोग नाना योनि भ्रमण करते हुए कदं भ्रमण करते हैं तथा उनका जीवन अधः पतित होता है।

कर्म या ज्ञानी होना जीवोंका प्रयोजनीय विषय नहीं है। कर्म या ज्ञान जीवात्माका धर्म नहीं है। श्रीकृष्णसेवा ही जीवोंका नित्यधर्म है। श्रीकृष्ण-कीर्तन करने से ही जीवोंका नित्यमंगल होगा। मंगलकी आयामावसे जीवोंको यथार्थ मगल न होगा। कृषकके रूपमें धानके पीथेका मंगल साधन करना होगा। इयामा पीथेको उखाड़कर फेंकनेकी आवश्यकता है। इसमें यह सावधानी रखनीहोगी कि भूलसे धानके पीथेको उखाड़ न दे। कर्म और ज्ञानमें भगवानकी सेवा नहीं है। कर्म तथा ज्ञानी—दोनों ही स्वार्थपर हैं। कुकर्मा अत्यन्त पापिष्ठ हैं।

सत्कर्मोंके पुण्य कार्यका पुरस्कार भी एक प्रकारसे दण्ड ही है, वह मूर्खताका दण्डमात्र है। अत्यन्त रूपवान होना, अधिक धनी होना अत्यन्त पण्डित होना—ये सभी दण्डके प्रकार-भेद मात्र हैं। पापका दण्ड हम अच्छी प्रकार समझ पाते हैं, किन्तु पुण्यका दण्ड भविष्यमें होने के कारण तुरन्त समझ नहीं पाते।

भगवद्गुरु-रहित व्यक्तियोंके मतानुसार अर्चा-मूर्ति कारीगर द्वारा प्रस्तुत एक पुतलीविशेष मात्र है। बाहरी भावने उन्हें इतना आच्छान किया है एवं वे देह और मनोधर्म द्वारा इतने परिचालित हुए हैं कि बाह्य मूर्ति उनके आँखोंमें प्रबल हैं। अतएव वे श्रीमूर्ति दर्शन नहीं कर पा रहे हैं। वे लोग श्रीमूर्तिको आपने भोगकी बस्तु समझ रहे हैं। वे लोग राधागोविन्दके नामको 'अक्षर' मात्र समझ रहे हैं। अर्थात् नामापराध करते करते भोग-राज्यकी ओर चले जा रहे हैं। उन सभी पापण्डियोंका उद्धार करनेके लिए पापण्डिदलन-व्रतधारी नित्यानन्द प्रभुके लिए आवश्यकता हो गई थी।

'सत्यकथा' को छिपाना या आवृत्त करना ही वर्तमानकालमें एक महा-पाण्डित्यका लक्षण हो पड़ा है। जो 'सत्यं परं' भगवानके इस रूपरूप लक्षणसे दूर हटकर आय-व्यय कार्यमें व्यस्त हैं, वे ही कर्मकाण्डी हैं। जो व्यक्ति भगवानकी कथामें विश्वास नहीं करते, संकीर्तनको ही एकमात्र सर्वशेष साधन एवं साध्य तथा मुक्त पुरुषोंकी उपास्य-वस्तुके रूपमें नहीं जानते, वे जरासन्धादिकी तरह ज्ञानकाण्डी भोगी हैं तथा ज्ञानकाण्डी फलगुत्यागी या प्रच्छब्द-भोगी हैं।

कृष्ण-संकीर्त्तन होने पर हमारी सांस-रिक उन्नति करनेकी बुद्धिसे (लाभ-पूजा-प्रतिष्ठादिकी आशापूर्ण प्राकृत चेष्टासे) छुटकारा प्राप्त होता है। कृष्ण-संकीर्त्तन-चंद्रिका से जीवोंका मंगल-कुमुद प्रस्फुटित हो उठता है। नाम-भजनकारी व्यक्ति ही सबपिक्षा अधिक पाण्डित्य प्राप्त करते हैं। एकमात्र नाम-कीर्त्तनकारीका ही सबंप्रकारसे पाण्डित्यमें पूर्ण अधिकार है। चैतन्यरस विग्रहके आनन्द-प्लावनसे हृदय पूर्ण हो जाने पर बाहरी जगतके चिन्ता-स्रोतमें व्यस्त या नश्वर-सुखके लोभमें मत्त रहनेकी चेष्टासे अनायास ही मुक्त हो सकते हैं—सर्व प्रकार की उपताका दमन हो जाता है—मायावाद ग्रहणीय नहीं है, यह जाना जाता है।

श्रीकृष्ण-संकीर्त्तनके सभी अधिकारी हैं। कृष्णमें सर्वशक्ति है—नाममें भी सर्वशक्ति है। पुरुष हरिभजन करेगे, शिश्रांत कर नहीं सकेंगी; स्वस्थ व्यक्ति हरिभजन करेगे, रुग्न व्यक्ति कर नहीं पायेगे; जो व्यक्ति दिनमें तीन बार स्नान नहीं कर सकता, वह हरि-भजन नहीं कर सकता; जिसके शरीरमें बल नहीं, वह हरिभजन नहीं कर सकता; नीच कुलमें उत्पन्न होनेके कारण हरिभजन नहीं कर सकेगा—ये सभी विचार भगवानके श्रीनाम संकीर्त्तनमें नहीं हैं। वह बालक है, तृप्त होकर उसके साथ मैं कीर्त्तन नहीं कर सकता; मैं पण्डित हूँ, मूर्खके साथ हरि-कीर्त्तन नहीं करूँगा; मैं कुलीन हूँ, नीच कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंके साथ कीर्त्तन नहीं करूँगा—ऐसे मनोधर्म या देहधर्मके विचार आत्मधर्मरूप श्रीकृष्ण-संकीर्त्तनमें नहीं है। मलमूत्र परित्याग करते समय या पापयुक्त

हृदयमें परिनाम नहीं कर सकता—ऐसा विचार भी श्रीकृष्णसंकीर्त्तनमें नहीं है। मलमूत्र परित्याग करते समय हरिनाम किया जा सकता है, पापिष्ठ व्यक्ति भी हरिनाम कर सकता है। किन्तु जो लोग 'हरिनाम कर पाप को दूर लेंगे'—ऐसी कपटताका आश्रय लेते हैं, वे हरिनाम नहीं कर सकेंगे। नाम बलसे पाप करनेकी प्रवृत्ति रहने पर हरिनाम नहीं होता।

मूर्खके लिए अर्चनमें अधिकार नहीं है। किन्तु वत्तमान समय कलिकाल है। ब्राह्मण अपने लड़केको कहते हैं—'जब लिखना पढ़ना नहीं सीखा, तो पूजाका कार्य करो।' किन्तु यह अर्चन सबसे अधिक पाण्डित्यका कार्य है।

यस्यात्मबुद्धिः कृष्णे श्रिधातुके
स्थधोः कलशादिषु भौम इच्यधीः ।
यत्तीर्थंबुद्धिः सलिले न कहिचि-
ब्जनेऽबभिजेषु स एव गीत्तरः ॥
(भा० १०।८४।१३)

अर्थात् जो व्यक्ति इस स्थूल शरीरमें आत्मबुद्धि, स्त्री एवं परिवारादिमें ममत्व-बुद्धि, मृण्मयादि जड़वस्तुओंमें इश्वरबुद्धि एवं चलादिमें तीर्थंबुद्धि करते हैं, किन्तु भगवद्गुरुकमें आत्मबुद्धि, ममता, पूज्यबुद्धि—इनमें से एक भी नहीं करते, वे गीत्रोंमें 'गद्य' अथवा अत्यन्त निर्बोध हैं।

अब्राह्मणोंका विचार है—'मेरे स्त्री-पुत्र हैं, यह देह मेरा है, मैंने उत्तम कलमें जन्म लिया है, मेरे रक्त-मांस-चमड़ा आदि परम पवित्र हैं।' इस प्रकारके विचारको लेकर भगवद्गुरुके निकट जा नहीं जा सकते। भगवद्गुरुकी कृपाके अभावमें हरिनाम नहीं

होता। विषयों में प्रमत्त रहनेपर श्रीविग्रह दर्शन नहीं होता एवं श्रीविग्रहको कारीगरने बनाया है; ठाकुर मिट्टी, कील, पत्थर, काठ पीतल द्वारा तैयार किये गये हैं—ऐसा विचार मनमें उठता है। जो व्यक्ति जिस अवस्थामें है, वह यदि साधुकी कथा सुने, तो उसकी पौत्रिकता दूर होती है।

'मैंने लिखना-पढ़ना सीखा है'-ऐसी बुद्धि प्रबल होनेपर हरिसेवा नहीं होती, पौत्रिक होना पड़ता है। मनुष्यके लिए लिखना-पढ़ना सीखना आवश्यक नहीं है, यदि वह लिखना-पढ़ना हरिभजनमें बाधा प्रदान करें। उसप्रकार लिखना-पढ़ना सीखकर मनुष्य पौत्रिक हो जाते हैं। हरिसेवाके बदले वे अहंकारकी पूजा करते हैं। मूर्ख कर्मकाण्डी जिस प्रकार हरिसेवा नहीं कर पाते, उसी प्रकार अतिजानी ज्ञानकाण्डी भी तमोधर्ममें आसक्त हो जाते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
(ईशावास्थ्योपनिषद्)

इस पृथ्वीम हजारों तथा लाखों साधन-प्रणालियोंकी बात बहुतसे लोग कहते हैं। कोई कहता है—'हरिनाम करना मुर्खका ही कार्य है हरिनाम न कर 'बहादुर' हो जाना ही पण्डित का कार्य है। अतएव श्रीगौरचन्द्र महाप्रभुने पण्डिताभिमानी समाजको शिक्षा देनेके लिए कहा है—“हे हरिनाम ! तममें मेरी रुचि नहीं हुई, तुम्हारे नाममें रुचि नहीं हुई !”

“शूद्र लोग या मूर्ख लोग हरिनाम करें। मैं पण्डित हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, वेदाध्ययन एवं अचंन करूँगा”—बदुजीवोंमें ऐसी बुद्धि

उदित होती है। अतएव श्रीमन्महाप्रभुने लोकशिक्षक लीला-प्रदर्शनके छलसे कहा है—“हाय भगवानके नामको छोड़कर अन्य कार्य में मेरी रुचि हो रही है, साक्षात् (व्यवधान रहिता) उपासनामें मेरी अरुचि है !”

श्रीमन्महाप्रभुने नाम-सम्बन्धमें और भी कहा है—‘हे जीवों ! तुम लोग कीर्तनको छोड़ कर और कुछ भी मत करो, सर्वभूषण कीर्तन करो। ‘अमानी मानद’, ‘तृणादपि सुनीच’ न होनेसे कीर्तन नहीं होता। तुम अपनेको बड़े उस्ताद, बड़े बुद्धिमान् आदि कहकर विषयोंमें प्रमत्त न होना।’ मैंने श्रीगौरसुन्दरके निकटसे ‘तृणादपि सुनीच’ होने का उपदेश पाया। मुझे यदि आक्रमण करे, तो उसे सहन कर हरिनाम करना उचित है। मुझे यह जानना उचित है कि आज भगवान् ने मुझपर कृपा कर ‘तृणादपि सुनीच’ होने का अवसर प्रदान किया है। इस प्रकार समझकर हरिनाममें और भी उत्साह युक्त होना आवश्यक है। किन्तु यदि कोई भी मेरे गुरुवर्गकी उन्नत पदवीकी अवमानना करे, तो उसे कहना होगा—‘अरे पाषण्डी ! तू बगा बंदावकी सुनीचता समझ नहीं पाता, भगवानके वक्ष, स्कन्ध, मस्तकमें रखनेकी वस्तु ‘बैष्णव’ को अपनेसे नीच समझता है ! तुझमें जो धृणित कार्य है, उसे तू किस साहससे बैष्णवोंके ऊपर आरोप करता है ? तू पाषण्डी कर्मी यह नहीं जानता कि समस्त मंगलमूर्तियाँ हाथ जोड़कर जिन बैष्णवोंकी सेवाकी प्रतीक्षामें सर्वदा खड़े हैं, उन बैष्णवोंकी निन्दा करने पर तुम्हारा अमंगल अवश्यम्भावी है !’

बैष्णव-विद्वेष से जीवोंका परम अमंगल होता है। बैष्णव निन्दकको समुचित रूपसे

दण्ड देना होगा—यही 'तृणादपि सुनीचता' एवं 'सहिष्णुता' है। किन्तु जब कोई व्यक्ति-गत रूपसे मुझे गाली-गलौज करते रहे, तब यह जानना होगा कि जो सभी व्यक्ति असुविधा में पड़ेंगे, उनके द्वारा कृष्ण मेरा मंगल विधान कर रहे हैं। भगवान् जब मुझपर दया करते हैं, तब असंख्य मुखोंसे असंख्य कटूकितयोंको निकालकर मुझे सहनशीलताकी शिक्षा देते हैं। भगवान् मुझे यह दिखलाते हैं कि संसार की निन्दाको सहन करनेकी शिक्षा न करने पर 'हरिनाम' करनेका अधिकार नहीं हो सकता।

कृष्णकीत्तन करना हो, तो 'मानद' होना होगा। हमारे गुरुदेवको मूर्तिमान् 'मानद' देख रहा है। वे वहिमुख व्यक्तियोंको धोखा देते थे—बाहरी बातें कर विदा कर देते थे। क्यों कि वे स्वयं भी नहीं करते एवं दूसरोंको हरिननन नहीं करते रहते।

सभी को थेष्ट जानना होगा। किन्तु इसलिए 'माया' को 'हरि' न कहना चाहिए। मेरे भोगके उपादानको, मेरे खानेके साधन को भगवान् न कहना होगा। भगवान्के प्रसादको 'भगवान्' कहना होगा।

दूसरे लोग मेरी सेवा करें—इसीका नाम कर्मकाण्ड है। हरिकी आङ लेकर अपना भजन कर लूँगा—हरि नौकर होंगे—मेरे भोगकी वस्तुओंके अभिरक्षक रूपसे सर्वदा खड़े रहेंगे—हममें ऐसी कर्मकाण्डीय कुबुद्धि वर्तमान है।

हरिसेवा-प्रवृत्ति-वृद्धिके लिए जिन सभी बातोंकी आलोचना हो, वही 'हरिकथा' है। किन्तु भोग-प्रवृत्ति-वृद्धिके लिए जो सभी बातें

कही जाय, वह हरिकथा नहीं, मायाकी कथा है।

कृष्णका संकीर्तन करो, तो लोग जानेगे कि 'मायाका कीर्तन' कृष्ण-संकीर्तन नहीं है। सेवाके अनुकूल जो सभी कार्य हो, वे ही 'भक्ति' हैं। कर्मके साथ उसे मिलावट (Confound) कर देना उचित नहीं है। कपटता कर दिखावटी भाव प्रदर्शन करना 'तृणादपि सुनीचता' नहीं है। इसलिए परम पूज्य श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपादने कहा है—'चेतन्यचरणोंमें निष्ठकपट अनुराग विशिष्ट पुरुषोंको छोड़कर, दूसरोंमें तृणादपि सुनीचता संभव नहीं है।' श्रीचेतन्यचन्द्रामृत, २४ वें इलोकमें—

तृणादपि च नीचता सहजसौम्यमुग्धाकृतिः
सुधा-मधुरभाविता विषयगन्ध धूपुत्कृतिः ।
हरिप्रणयविह्वला किमपि धीरणालम्बिता
भवन्ति किल सदगुणा जगति गौरभाजाममी ॥

अथात् तृणकी अपेक्षा सुनीचता या प्राकृत-अभिमानशून्यता, स्वाभाविक स्निग्ध-कर्मनीय-मूर्ति, अमृतकी तरह मधुरभाविता, कृष्णचेतन्य-सम्बन्धरहित विषयगन्धमें धुत्कृतिः, हरिप्रेममें विह्वल होकर सम्पूर्ण रूपसे बाह्यज्ञानशून्यता—ये सभी सदगुण जगतमें एकमात्र गौरभक्तोंमें ही हुआ करते हैं।

'हरिकथा' को छोड़कर जगतमें और कथा कुछ भी नहीं है। एकमात्र हरिकथा द्वारा ही जीवोंका मंगल होता है। केवल स्वर, ताल, मान, लय—ये सभी कीर्तन नहीं हैं। श्रीमन्महाप्रभुने हमें 'संगीत-उस्ताद' होने की बात नहीं कही है। उन्होंने सर्वक्षण कीर्तन करनेके लिए ही कहा है। तरह

तरहसे खोल बजानेसे या लोगोंको भुला देनेसे ही कीर्तनिकारी नहीं बन सकते । अपना इन्द्रियतंपण हरिकीर्तन नहीं, जिसके द्वारा कृष्णेन्द्रियतंपण हो, वही हरिकीर्तन है । स्वयं लीलामें प्रविष्ट न होने तक कृष्णकी लीलाका कीर्तन किया नहीं जा सकता ।

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीनाम-साधन-प्रणालीकी बात कहकर नाम-कीर्तनिकारीकी सभी कपटताएँ या अन्याभिलाषायके-वर्जनकी बात बतलायी । भागवत-धर्म या 'परग धर्म' एक-मात्र नामकीर्तन द्वारा ही सम्पन्न होता है, वह 'प्रोज्ज्ञतकै तव' धर्म है ।

धन-जन-पाण्डित्य-लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा के अनुसन्धान या मुक्ति पानेके लिए हमें प्रयास न करना होगा । धर्मार्थिकाम या कर्म-फलवाद और मोक्ष—जिसके लिए जगतके तथा कथित धर्मसम्प्रदायोंके प्रायः अधिकांश व्यवितही लालायित हैं, श्रीमन्महाप्रभुके कथनानुसार वे सभी कपटताएँ या छलनाएँ हैं । ये सभी प्रयास जिनमें हो, उनके मुखसे हरिनाम नहीं निकलते । धर्मार्थिकाममोक्ष-वासनाके लिए हम लोग नामाश्रयका अभिनय दिखलाकर नामापरावी न हो पड़े । अपने-अपने भोग या ज्ञानितके लिए भगवान्के चरणोंमें प्रार्थना करनी नहीं चाहिए । अपनी सुविधाके लिए भगवान्को कभी नौकर न बनाऊँगा, उन्हें कष्ट न दूँगा । जो लोग धर्मार्थिकाम चाहते हैं, उन्हें कर्मकाण्डी एवं जो लोग कर्मफलत्याग का विचार करते हैं, उन्हें ज्ञानकाण्डी कहते हैं । ये दोनों ही स्वार्थपर एवं भगवान्को नौकर करनेके लिए व्यस्त हैं, भोक्तृतत्त्व

भगवान्को भी अपनी योग्य वस्तु बनानेके लिए व्यस्त हैं ! किन्तु शुद्ध भक्त कहते हैं—

नाहं बन्दे तव चरणयोद्दृन्दमद्दृहेतोः
कुम्भीपाकं गुरुमपि हुरे नारकं नापनेतुम् ।
रस्या-रामा-मृदुतनुलता नन्दने नाभिरन्तुं
भावे भावे हृदय-भवने भावयेयं भवन्तम् ॥

(मुकुन्दमालास्तोत्र, ४४५ श्लोक)

अर्थात् हे हरे ! मैं तुम्हारे चरणयुगलोंकी बन्दना द्वन्द्व नाशरूप मुक्तिके लिए, या गुरु-तर कुम्भीपाक या अन्य नरकसे निष्कृति पाने के लिए भी नहीं करता; न नन्दन काननमें सुन्दरी सुरकामिनियोंकी सुकोमल तनुलता समूहके संयोगसे सुख पानेकी आशासे तुम्हारे चरणयुगलकी बन्दना करता हूँ । किन्तु केवला भक्तिके प्रति स्तरमें आश्रित होनेके लिये हृदयमन्दिरमें तुम्हारे पादपद्मकी चिन्ता करता हूँ ।

मैं अपने कार्यके लिए शान्ति या अशान्ति कृद्ध भी नहीं चाहता । धर्म-प्रथ-कामकी वाढ़ाएँ सभी ही ननके धर्म, शारीरके धर्म या तात्कालिक धर्म हैं । जो लोग चतुर्बांगका प्रयोजन समझते हैं, उनसे हरिभजन नहीं हो सकता—हरिनाम नहीं हो सकता । आय-व्यय दलके मुखसे कदापि श्रीकृष्ण-संकीर्तन नहीं होता ।

'बैच्छिवापराध' या 'नामापराध'—दोनों एक ही वस्तु हैं । नामापराधसे भोग-चेष्टा उद्दित होती है, कर्म और ज्ञानकी चेष्टामें आग्रह बढ़ता है । यदि हम नन्दनन्दनकी सेवा का अधिकार चाहते हैं, तो हमारे लिए कनक-

कामिनी-प्रतिष्ठाकी चेष्टासे उद्धार पाना आवश्यक है। कनक-कामिनी प्रतिष्ठाको उपयुक्त स्थानमें नियोग करना होगा, अन्यथा उसका कल विषय होगा। अमंगलके हस्तोंसे उद्धार पानेके लिए श्रीमन्महाप्रभुके पादपद्माश्रय

को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है—
दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि ।
हे साधव ! सकलमेव विहाय दूरात्
चेतन्यचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम् ॥

—जगदगुरु ऊ विष्णुपाद श्रोल सरस्वती ठाकुर



प्रश्नोत्तर

(अन्याभिलाष)

१—कामी व्यक्तियोंकी अन्नपूर्णा-पूजामें क्या प्रीतिका उद्देश्य है ?

“कामी स्त्रियों द्वारा भावी जन्मोंमें प्रचुर अच पानेकी आशासे जो अन्नपूर्णाको पूजा होती है, उनका ‘विष्णुप्रीति-काम’ संकल्प केवल धार्यमात्र है ।”

चै० शि० ८ म उपसंहार

२—अन्याभिलाषी बहिमुख व्यक्ति कितने प्रकारके हैं ?

“बहिमुख व्यक्ति छः प्रकारके हैं—(१) नीतिरहित और ईश्वर विश्वासरहित व्यक्ति (२) नीतिक परन्तु ईश्वर विश्वासरहित व्यक्ति, (३) सेश्वर नीतिक—जो ईश्वरको नीतिके अधीन समझते हैं, (४) मिथ्याचारी

या दांभिक (बंडाल ब्रतिक, बकदतिक एवं तत्वचित) (५) निविशेषवादी एवं (६) ब्रह्मी-इश्वरवादी ।”

३—नीतिदीन निरीश्वर व्यक्तिका जीवन किस प्रकार है ?

“जो लोग नीति एवं ईश्वर नहीं मानते, वे विकर्म एवं अकर्मपरायण हैं। नीति न रहने पर यथेच्छाचार होता है ।”

चै० शि० ३।३

४—निरीश्वर-नीतिका चरित्र क्या विश्वासयोग्य है ?

“निरीश्वर-नीतिका सुविधा पाने स्वार्थके निकट नीतिका बलिदान नहीं करेंगे, इसका विश्वास कहाँ है ? उनके चरित्रकी

परीक्षा करने पर उनके मतोंकी अकमंग्यता के हैं—(१) बैडालव्रतिक एवं (२) वंचित ।”
उपलब्धि होगी ।”

—चौ० शि० ३।३

५—सेश्वर कर्मी क्या यथार्थ ही ईश्वर-भक्त हैं ?

“तीसरी श्रेणीके बहिमुख व्यक्ति ‘सेश्वर कर्मी’ कहलाये जाते हैं । ये लोग दो श्रेणियों में विभक्त हैं । जो लोग नीतिके मध्य ईशकृत कृतज्ञताको एक प्रधान कर्तव्य कहते हैं, किन्तु ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, वे लोग एक श्रेणीके हैं । ईश्वरकी कल्पना कर पहले उनमें श्रद्धापूर्वक प्रणिधान करने पर एवं पश्चात् नीतिके फलसे सच्चरित्र उदित होने पर ईश्वर-विश्वास परित्याग करनेसे कोई हानि नहीं होती है—यह प्रथम श्रेणीके सेश्वरकर्मीयोंका मत है । द्वितीय श्रेणीके सेश्वरकर्मी लोग यह विश्वास करते हैं कि ईश्वरोपासना रूप सन्ध्यावन्दनादि सभी कार्य करने करते चित्त शुद्ध होता है । चित्त शुद्ध होने पर ब्रह्मज्ञान होता है । उस समय जीवों का और कोई कल्पना नहीं रहता । इस प्रति से ईश्वरके साथ सम्बन्ध पान्थ या अनित्य मात्र है, नित्य नहीं है ।”

—चौ० शि० ३।३

६—मिथ्याचारी कितने प्रकारके हैं ?

“मिथ्याचारी लोग चौथे बहिमुख व्यक्तियोंमें परिगणित हैं । ये लोग दो प्रकार

७.—बैडालव्रतिकोंका क्या स्वभाव है एवं उनके अनुगमनकारियोंकी क्या दशा होती है ?

“बैडाल-व्रतिक लोग जगत्की नंचना करते हुए अधर्मपथको साफ कर देते हैं । अनेक निर्बोध लोग उन्हें बाहरसे देखकर वंचित होकर उस पथका अवलम्बन कर अन्त में भगवद्विष्टुत्व हो पड़ते हैं । बाहरमें दिव्य वैष्णव-चिह्न, सर्वदा भगवन्नाम, जगत्के प्रति अनासक्ति, समय-समयमें अच्छी-अच्छी बातें—ये सभी स्थूल लक्षण ही उनमें देखे जाते हैं एवं गोपनमें कनक-कामिनी-संग्रह आदि भयंकर अत्याचार उनके ‘अन्तरङ्ग’ भाव हैं ।”

चौ० शि० ३।३

८—शुद्ध भक्तिमें क्या अन्याभिलाषीके लिए त्वाग है ?

“शुद्ध भक्तिमें कृष्ण सेवाके लिए अपनी (पारमाथिक सिद्धि-पथमें) उप्ताति बाढ़ाको छोड़कर और कोई बाढ़ा नहीं रह सकती—कृष्णको छोड़कर और किसी प्रकारके सेव्य ब्रह्म-परमात्मादि स्वरूपकी पूजा नहीं रह सकती एवं ज्ञान और कर्म तत्त्वस्वरूपमें रह नहीं सकते ।”

—अ० प्र० भा०, मध्य, १६।१६॥

— जगद्गुरु ऊ० विष्णुपाद भक्तिविनोद ठाकुर

श्रीमन्महाप्रभुके अवतरणका रहस्य

श्रीमद्भगवद्वीतामें भगवान् कृष्णने अर्जुन से कहा है —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अन्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सूजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(गीता ४। ८-६)

अर्थात् जब जब धर्मकी हानि एवं अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं साधु पुरुषोंके रक्षाके लिये, दुष्ट पुरुषोंके विनाशके लिये एवं धर्मकी स्थापनाके लिये प्रति युग में इस जगतमें अवतीर्ण होता है। इसका गृह अर्थ यह भी है कि जब जब शास्त्राके नित्यधर्म या जीवोंका स्वाभाविक घनकृप भक्तिधर्म पाषण्ड व्यक्तियोंके घोर विरोध एवं उनके पाषण्ड मत-समूहों द्वारा आक्रान्त होता है एवं भक्तिविरोधी ज्ञान, कर्म, योग प्रबल होने लगते हैं, तब उन-उन भक्तिविरोधी धर्मों गा अधर्मोंका वत्तन करने के लिये भगवान् अपनी अचिन्त्य योगमाया शक्ति के ग्राहणसे इस गर्वजगतमें कृपापूर्वक अवतीर्ण होते हैं। भगवानके भक्त लोगोंको कोई भी जागतिक क्लेश या दुःख किसी प्रकार से पीड़ा या बाधा नहीं प्रदान कर सकते। भगवानके भक्त लोग भगवानके विच्छेदरूप विरहसागरमें पड़कर असीम क्लेशका अनुभव करते हैं। जिस प्रकार लताएँ वर्षाका जल प्राप्त कर सज्जीवित हो उठती हैं एवं - फुप्रललता प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार अपने विरहसे अत्यन्त पीड़ित भक्तोंको अपना प्रेम

एवं दर्शनरूपी जल प्रदान कर उन्हें सुखी करनेके लिए भगवान् अवतरित होते हैं। यही उनके अवतीर्ण होनेका गूढ़तर कारण है। इसीके साथ-साथ अत्यन्त बहिमुख जीवोंकी दुष्कृतिका विनाश कर उन्हें अपने भक्तिधन का अधिकारी बनाने के लिए भगवान् आविभूत होते हैं।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक युगमें अवतीर्ण नहीं होते। वे ब्रह्माके एक दिनमें अर्थात् एक कल्पके सातवें मन्वन्तरके २८ वें चतुर्यग्नके द्वापरके अन्तमें प्रकटित होते हैं। असुरोंको मारना, वर्णशिम धर्मका पुनः प्रवर्द्धन करना, पुण्यवर्जना त्रिवर्णन करना जगतका पालन करना—ये काय जंशावतार द्वारा भी साधित हो जाते हैं। किन्तु भगवान् के अपने निजधनरूपी पंचम पुरुषार्थ प्रेमको एकमात्र पूर्णतम भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण ही प्रदान कर सकते हैं। वे केवल-लीलामय हैं। स्वयं लीलारसका आस्वादन करना और प्रेमी भक्तोंको उसका आस्वादन करना—यही उनका मुख्यतम कार्य है। अतएव लीलाशुक श्रीविल्वमंगलजीने भी कहा है—

सन्त्ववतारा बहवः पञ्चजनाभस्य सर्वतो भद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥

अर्थात् भगवान् पंकजनाभ (गर्भोदिक-शायी विद्धा) के अनेक मंगलमय अवतार हुए हैं, जिन्होंने असुर-मारण, जगत्पालन आदि कार्य किये हैं। किन्तु स्वयं भगवान् कृष्णको

छोड़कर लताओंको अर्थात् अपने आश्रित व्यक्तियोंको प्रेम देनेवाले और कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है ।

उनकी प्राप्तिके लिये दीर्घकालसे साधनरत भक्तोंको अपनी गृहतम लीलामें प्रवेशाधिकार प्रदान करनेके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी गोलोकस्थ अप्रकट लीलाका इस मत्य-जगतमें कृपा कर आविर्भाव कराया । किन्तु उनके भक्ति-विरोधी कंस, जरासंघ, दुर्योधन, शिशुपाल, दन्तवक्ष शाल्व आदि अपर्युप अमुर भावापन्न राजाओं ने उनके भक्ति-अजंन करनेमें पराज्ञमुखता दिखाई एवं उनकी निन्दा कर अपराध पंकिलमें छूबने लगे । भगवान् कृष्णने देखा कि मैं जिस कारणसे जगतमें प्रकट हुआ था वह कायं यथार्थ रूपसे पूर्ण नहीं हुआ एवं रोगके प्रशमन होनेके बदले वह और भी उप्रत्यग हो नसा है । अतएव मैं अपने आपको गोपन करते हुए भक्तरूपसे अवतीर्ण होकर इन सब जीवोंका उद्धार साधन करूँगा एवं उन्हें अपने निगृहतम धन पंचम पुरुषार्थरूप मेंगका पूर्ण भधिकारी बनाऊँगा । इमलिये लीलापुरुषोत्तम स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन गीर्वाजनवन्नलम श्रीकृष्ण भक्ताभाव जंगीकार कर इस कलिकालमें श्रोचंतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ।

स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनने द्वाषरके अन्तमें अपने नित्य गोलोकधाम एवं अपने नित्य परिकरोंके साथ प्रकट लीला की थी । उस समय उनकी अपनी तीन गृहतम बाँध्याएं पूर्ण नहीं हो पायी थीं । प्रेमके विषय होनेके कारण वे आश्रयजातीय इन तीनों भावोंका आस्वादन नहीं कर सके ।

श्रीकृष्णके श्रीचंतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण होनेके इन कारणोंको श्रीस्वरूप-दामोदर गोस्वामीजीने निम्न इलोकद्वारा व्यक्त किया है —

श्रीराधाया: प्रणयमहिमा कीहशो वानयैवा-स्वाद्यो येनादभुतमधुरिमा कीहशो वा मदीयः सौख्यञ्चारथ्या मदनुभवतःकीहशो वेति लोभात् तद्ग्रावाङ्गः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

(श्रीस्वरूप गोस्वामीके कड़चासे)

अर्थात् श्रीमती राधारानीकी प्रणय-महिमा कौसी है ? श्रीमती राधिका मेरी जिस अद्भुत रूप-मधुरिमाका आस्वादन करती हैं वह मेरी मधुरिमा कौसी है एवं मेरी रूप-मधुरिमाका आस्वादन कर श्रीमती राधिका को जो अनिवंचनीय सुख मिलता है, वह सुख भी कौसा है ? इन्हीं तीन अभिलाषाओंके लाभसे भगवान् श्रीकृष्ण अभिन्न यशोदा श्रीकाञ्जीदेवीके गर्भसे श्रीमन्महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण हुए ।

रसिकशेखर भगवान् श्रीकृष्णने मन ही मन गृह विनाश किया कि मेरे अनिवंचनीय नाम, रूप, गुण, लीला आदिसे त्रिजगतके समस्त प्राणी मोहित हो जाते हैं । केवल इतना ही नहीं, मेरे अन्यान्य स्वरूप, मेरे विलास विग्रह वैकुण्ठरथ नारायणकी प्रियतमा पति-वत्ता-शिरोमणि लक्ष्मीजी मोहित हो जाती हैं । किन्तु श्रीमती राधिकामें मुझसे अधिक माधुर्य एवं अलौकिक गुण वर्तमान हैं । अतएव वे अपने अलौकिक प्रणयसे मुझ मदन-मोहनको भी मोहित कर लेती हैं । उनकी इस अद्भुत प्रणयमहिमाको आस्वादन करनेके लिये मैं सर्वदा इच्छुक रहता हूँ । किन्तु मैं इस प्रेमका

हैं। अतएव इसको आस्वादन करनेमें असमर्थ हैं। यदि मैं आश्रयजातीय भाव (श्रीमती राधिकाका भाव) अंगीकार करूँ, तब ही मेरी यह दच्छा पूर्ण हो सकेगी ।

एकबार भगवान श्रीकृष्ण दर्पणमें अपने अनुपम रूपका दर्शन कर स्वयं मुग्ध हो गये। तब उन्होंने यह विचार किया कि जब अपनी इस अलौकिक माधुरीसे मैं स्वयं मुग्ध हो जाता हूँ, तब मेरे भक्तोंको अवश्य मुझसे भी कहीं अधिक सुख मिलता है और मेरे सभी भक्तोंमें सर्वथेषा श्रीमती राधिकाको तो मुझसे भी अनन्त गुण सुख प्राप्त होता है। अपने माधुर्यका मैं स्वयं पूर्णरूपसे आस्वादन नहीं कर पाता। अतएव मेरी इस वाञ्छा को पूर्ण करनेके लिए श्रीमती राधिकाका भाव अंगीकार करना परमावश्यक है ।

मेरी इस अतुलनीय एवं असमान्दर्शक माधुरीका आस्वादन कर श्रीमती राधिकाको कैसा अनुपम सुख मिलता है?— इसे भी मैं अनुभव नहीं कर पाता हूँ। श्रीमती राधिका का प्रेम एवं मेरी अदभुत मधुरिमा— दोनों ही गवनवायमानरूपसे वृद्धि प्राप्त होते रहते हैं, किन्तु इस प्रतियोगितामें श्रीमती राधिका सर्वदा उत्कृष्टता प्राप्त करती हैं ।

भगवान श्रीकृष्ण इन्हीं तीन वाञ्छाओं का स्वयं आस्वादन करने लिये श्रीमती राधिकाके भाव एवं कान्ति ग्रहण कर श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण हुए। उन्होंने प्रेम-रसनिर्यासका स्वयं आस्वादन करते हुए साथ ही साथ आचण्डाल समस्त जगज्जीवोंको अपना गुप्त धनरूप उन्नत-उज्ज्वल रस प्रदान

किया एवं ऐश्वर्यपर भक्तोंको तथा विधिमार्गरत भक्तोंको रागानुग भक्तिकी शिक्षा प्रदान की। इसी रागानुगा भक्तिको प्राप्त कर जीव अमृतत्व प्राप्त करते हैं। इस बातकी पुष्टि गोपियोंके प्रति भगवान श्रीकृष्णकी उक्तिसे होती है—

मयि भक्तिहि भतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्सनेहो भवतीनां भद्रपमः ॥

(श्रीमद्भागवत १०।८।४४)

अर्थात् मेरे प्रति भक्ति ही जीवोंके लिये अमृत है। हे गोपीगण, मेरे प्रति तुम्हारा जो निष्पाधिक एवं सहज स्नेह है, वह ही तुम्हारे द्वारा मुझे प्राप्त करनेका एकमात्र कारण है। श्रीराधाभावकान्तिधारी श्रीमन्महाप्रभुने रागानुगा भवितमें अधिकार प्राप्त करनेके लिये जगज्जीवोंको विप्रलम्भ रससे श्रीकृष्ण-भजन करनेका आदर्श प्रदर्शित किया है ।

जब स्वयं भगवान अवतीर्ण होते हैं, तब अशावतार, लीलावतार, युगावतार आदि समस्त अवतार उनके साथ मिलित रूपमें प्रकटित होते हैं। जब स्वयं भगवान श्रीमन्महाप्रभुके रूपमें आविर्भूत हुए, तब युगावतार काल भी उपस्थित हो गया। अतएव कलियुगके युगधर्मरूप नामसंकीर्तनका प्रचार भी पूर्ण अवतारी श्रीनम्हाप्रभुजीने आनुषंगिक रूपसे किया। इस प्रकार उन्होंने जगज्जीवोंको सहजसे सहजरूपमें अपनी प्राप्तिका साधन दिखलाया। जिस प्रकारसे अत्यन्त रोगप्रस्त व्यक्तिको अत्यन्त तीव्र एवं अमूल्य औषधिकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कलिकालके अत्यन्त तीव्र भव-रोगप्रस्त जीवोंके लिये एकमात्र हरिनाम

ही परमोपयि स्वरूप है। क्योंकि कलिकालमें नामके रूपमें कृष्ण अवतीर्ण हुए हैं। इसी परम औपयिको श्रीमन्महाप्रभुने कलिकालकी भयंकर भवदावाग्निग्रस्त जीवोंको मुक्त-हस्तसे प्रदान किया है। श्रीमन्महाप्रभुने जगज्जीवों को यह दिखलाया कि किस प्रकारसे हरिनाम संकीर्तन करने पर परम पुरुषार्थरूप श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त हो सकता है।

जब द्वापरके अन्तमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनी नित्य गोलोक-लीलाको सपरिकर अप्रकट किया, तब कालके प्रभावसे जगतके व्यक्ति उनकी लीलास्थलियोंकी महिमाको भूलने लगे। उस समय अनिस्तके पुत्र वज्रनाभ एवं अर्जुनके पौत्र परीभित् महाराजने भगवानकी ऐकान्तिकी प्रेरणासे तत् लीलास्थलियोंमें भगवन्प्रतिमास्थापन, श्रुतिपिण्डनिमांण एवं लोकवास कराकर कृष्णकी लीलाके माहात्म्यको विस्मृत हानसे बचाया। घोर कलिके जागमन होनेपर क्रमशः जगदवासी व्यक्ति भगवल्लीलाके माहात्म्यको भूलने लगे। कलि-पावनावतारी प्रच्छन्न-विग्रह स्थव भगवान् श्रीमन्महाप्रभुके अवतीर्ण होनेके बहुत काल पहलेसे ही देश में म्लेच्छोंका एवं यवनोंका बोलबाला था एवं सनातनधर्मी व्यक्ति उनके रंगसे अपने धर्मको विस्मरण करते जा रहे थे। वे लोग भगवल्लीलाकी महिमाको प्रायः भूल चुके थे। श्रीधाम वृन्दावनमें म्लेच्छोंके अत्याचारसे प्राचीन वृष्णवोंद्वारा एवं दीर्घकालसे प्रतिष्ठित भगवद्विग्रह आदि स्थानान्तरित एवं गोपन किये जा रहे थे। श्रीधाम वृन्दावनकी लीला-स्थलियाँ अपने प्रभावको गोपन की हुई थीं एवं जनसाधारण उसके

अनुसंधानसे रहित हो गये थे। स्वयं पूर्ण अवतारी श्रीमन्महाप्रभुने अवतीर्ण होकर अपनी भक्ति-महिमाका सपार्यद सर्वंश प्रचार किया एवं सनातन भक्ति धर्मकी प्रबल बाहसे जगत्को प्लावित कर दिया। जिस भगवद् प्रेमकी महिमाको वेदोंमें बड़े गुप्त रूपसे वर्णन किया गया है एवं जिसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी जाननेमें असमर्थ रहे तथा अन्यान्य अवतारोंमें भी जिसका वितरण नहीं किया गया, जिसके लिये ब्रह्मा, शिव आदि योगेश्वर भी लालायित रहते हैं, श्रीमन्महाप्रभुने उसी दुलभ एवं सर्वोक्तुष्ट प्रेमधनका विना किसी भेदभावके ब्राह्मणाल सभी व्यक्तियों को वितरण किया। जिस भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाको एवं श्रीकृष्ण-प्रेमस्वरूपिणी गोपियों एवं उनमें सर्वश्चेष्ठा अप्राकृत शृङ्खार रसस्वरूपा श्रीमती राधिकाकी अनिवंचनीय प्रणयप्रहिमाको बड़े-बड़े विश्व पुरुष भी जानने में असमर्थ रहे, उसका उन्होंने पूर्णरूपसे प्रकटन किया। उसकी अद्भुत महिमाको उन्होंने अपने नित्यसिंठ पार्षदों द्वारा एवं दक्षं वृन्दावनमें आकर जनसाधारणके हृषिगोचर कराया। जिस भगवन्नामकी महिमासे जैगिनी, यज्ञवल्क्य आदि अन्यान्य बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी अनभिज्ञ थे, उसको भी श्रीमन्महाप्रभुने ही प्रकाश किया। इस प्रकार स्वयं पूर्ण भगवान् श्रीचंतन्य-महाप्रभुने अपने अत्यन्त गुरुतर एवं अपौरुषेय कार्य द्वारा जगज्जीवोंका जो यथार्थ एवं नित्य कल्याण किया, उसका अनन्तदेव भी अपने सहस्रों मुखोंद्वारा कदापि पूर्णरूपसे कीर्तन नहीं

कर सकते । अतएव त्रिदण्डकुल चूडामणि
श्रीगौरपार्वदप्रधान श्रीकृष्ण-लीलाकी
अष्टसखियोंमें अन्यतम श्रील प्रबोधानन्द
सरस्वतीने अपनी अलौकिक वाणी द्वारा
इस तत्त्वको इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रेमा नामाद्भुताथः अवणपथगतः
कस्य नाम्ना महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृद्धावन-
विपिन महामाधुरीष प्रवेशः ।
को वा जानाति राधां परम
रसचमत्कारमाधुर्यसीमा-
मिकर्चेतन्यचन्द्रः परम-
करुणया सर्वमाविश्वकार ॥
— श्रीचेतन्यचन्द्रामृतम्

अथर्ति 'प्रेम' नामक परमपुरुषार्थको
किम्होने अवण किया था ? कौन ही श्रीनाम
की महिमा जानता था ? किसका श्रीवृद्धावन
भूमिकी गुप्ततम महामाधुरी-पुञ्जमें प्रवेश था ?
कौन ही परम चमत्कार अधिसृढ़ महाभाव-
माधुर्यकी पराकाष्ठास्वरूपा श्रीकृष्ण-प्रेयसी
ज्ञानीमणि श्रान्तो राधिकाओं परम उपाय
वस्तुके रूपमें जानता था ? एकमात्र श्रीचेतन्य
वस्तुके रूपमें जानता था ?

महाप्रभुने ही अपनी परम औदायेमय
लीला प्रकट कर इन सबको प्रकाश किया ।
अतएव किसी भक्तकी भी उक्ति है—

भाव राधिका माधुरी, आस्वादन सुख काज ।
जयति कृष्णचेतन्य जय, कलि प्रकटे व्रजराज ॥

अन्तमें त्रिदण्डकुल चूडामणि परम
भागवतोत्तम श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपादके
वचनोंका उद्धरण कर अपने इस वक्तव्यको
पूर्ण करते हैं—

संसारसिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात्
संकीर्तनामृतरसे रमते मनश्चेत् ।
प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्ति-
इच्छतःयच्चन्द्रचरणे जारणे प्रयातु ॥

अर्थात् हे साधकगण ! यदि आप संसार-
समुद्र उत्तीर्ण करना चाहते हैं, संकीर्तनामृत-
रस-माधुरीमें रमण होना चाहते हैं,
तथा प्रेम-समुद्रमें विहार करनेकी अभिलाषा
रखते हैं, तो आप कलिपावनावतारी राधा-
भावगुतिमुबलित श्रीचेतन्यचन्द्रके परणोंमें
शरणागत हों ।

— श्रीश्यामकिशोर ज्ञानचारी

वन्दों गौर प्रभुपद पावन

वन्दों गौर प्रभुपद पावन ।

राधाकृष्ण स्वरूप तत्त्व पर, करुणाकर जग सुख उपजावन ॥

प्रेम प्रचार अहार प्रेम नित, प्रेम दानि कलि-कलुष नहावन ॥

'श्यामदास' जन-जानि-जानि-पन, दान-देहु रति हरिगुण गावन ॥

धर्मका यथार्थ स्वरूप

अधिकांश व्यक्ति ही 'धर्म' शब्दका व्यवहार करते हैं एवं इसका सर्वत्र प्रचलन भी है। इस शब्दकी व्याख्या विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकारसे किया करते हैं। किन्तु इनमेंसे अधिकांश व्यक्ति 'धर्म' के यथार्थ तात्पर्य एवं स्वरूपसे अपरिचित हैं। धर्मसा अर्थं व्यापक होने पर भी इसका यथार्थ स्वरूप बड़ा ही दुर्बोध, गुह्य एवं विशुद्ध है।

'धर्म' शब्दकी उत्पत्ति 'वृ' वासुसे हुई है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। 'धर्म' शब्द की परिभाषा इस प्रकारसे की जा सकती है—ध्रियते (धायंते) वस्तुनः सत्ता यस्मात् इति धर्मः। अर्थात् जिस भाव या गुण द्वारा किसी वस्तुकी सत्ता धारण की जाती है, वह भाव या गुण ही उसका धर्म है। उस भावको त रहने पर उस तस्तुकी गत्ता रहना असम्भव है। जिस प्रकार आगका धर्म दाहिका शक्ति या दहनशीलता है। दाहिका शक्तिसे ही आगकी सत्ताका परिचय मिलता है। दाहिका शक्तिके अभावमें आगकी गत्ता ही नहीं रह जाती। अतएव वस्तुके धर्मको वस्तुसे अलग किया नहीं जा सकता।

ईश्वरकी इच्छासे किसी वस्तुका गठन होनेवर उसके यात्र ही यात्र उसके नित्य सहचर रूपसे एक स्वभावकी उत्पत्ति होती है, जो उसमें सर्वदा अनुस्युत रहता है। यह स्वभाव ही उस वस्तुका धर्म है। किसी कारणसे उस वस्तुमें विकार या परिवर्त्तन आनेपर उसका स्वभाव भी विकृत या परिवर्तित होता है, किन्तु सम्पूर्ण रूपसे लोप नहीं होता। वस्तुके धर्मकी सहायतासे ही वस्तुका

यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। वस्तुकी सत्ता उसके स्वभाव या धर्ममें निहित है।

आत्मा भी एक वस्तु है। उसका भी एक नित्य धर्म या स्वभाव है, जो उसका नित्य सहचर है। आत्मा अर्णु चेतन पदार्थ है एवं भगवान् वृहत् चेतन पदार्थ हैं। अतएव भगवान्में जो सभी अप्राकृत गुण पूर्णतम मात्रामें वर्त्तमान हैं, आत्मामें वे सभी गुण अर्णु मात्रामें स्थित हैं। जीव या आत्मा भगवान् का अंश होनेके कारण उसका अपने पूर्णतम अंश भगवान् के प्रति एक नित्य कर्त्तव्य है जो किसी भी अवस्थामें लुप्त नहीं होता। यह नित्य कर्त्तव्य या सम्बन्ध ही उसका नित्य धर्म है। जिस प्रकार भगवान् नित्य एवं परम चेतन हैं, उसी प्रकार आत्मा भी नित्य एवं अर्णु चेतन है। अतएव आत्मा एवं भगवान्में जो सम्बन्ध है, वह भी नित्य एवं चेतन भाव पूर्ण है। अतएव आत्माका धर्म सनातन एवं विशुद्ध चेतनमय है।

आत्मा चेतन पदार्थ होने पर भी ईश-विमुखताके कारण मायाबद्ध होकर अपने नित्य स्वरूप एवं धर्मको विस्मृत हो जाता है। माया द्वारा स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर प्राप्त कर जीव उस उस धर्मको ही नित्य मानने लगते हैं। यह धर्म जीवात्माका नैमित्तिक धर्म है। इसे भी निसर्ग कहा जाता है। माया नैमित्तिके दूर होने पर उसका स्वरूपगत धर्म पुनः प्रकाशित हो जाता है। उदाहरणके लिए जलका धर्म तरलता है। ठंडके कारण जल जमकर बर्फ हो जाता है। बर्फ होनेपर

जलकी तरलता रूप धर्म बदलकर काठिन्य रूप धर्ममें अपनेको प्रकाशित करता है। यह 'काठिन्य' धर्म जलका नित्य धर्म नहीं, नैमित्तिक धर्म मात्र है। ठन्डरूप निमित्तके दूर हो जाने पर जलका अपना स्वरूपगत धर्म पुनः प्रकाशित हो जाता है।

जीवमात्रका नित्य धर्म एक होने पर भी मायाबद्ध होने के कारण उसका नैमित्तिक धर्म बहुतसे रूपमें प्रकाशित होता है। नैमित्तिक धर्म सोपाधिक मात्र है, विशुद्ध निष्पाधिक नहीं। जीवोंका स्थूल देह एवं सूक्ष्म देह के धर्म यथार्थ धर्म नहीं हैं। वे विशुद्ध धर्मकी विकृति, आभास या आंशिक अभिव्यक्ति मात्र हैं। मायाबद्ध जीव सोपाधिक या नैमित्तिक धर्मको ही नित्य धर्म माननेका भ्रम कर बैठे हैं। इसी भ्रमके कारण इस जगतमें देश-काल-पात्र भेदसे अनेक धर्म कलिप्त हुए हैं। ये सभी धर्म नैमित्तिक धर्मके प्रकारभेद मात्र हैं, नित्य धर्म नहीं। जिन्हें जात्माको स्वरूपका ज्ञान है, वे उसके नित्य धर्मसे भी परिचित हैं।

आत्मा भगवान्की शक्तिविशेष है। भगवान् पूर्ण शक्तिमान् वस्तु है। शक्तिका कायं शक्तिमान् वस्तुकी इच्छापूर्ति या उनका आनुगत्य है। अतएव शक्ति-तत्त्व आत्माका परम कर्त्तव्य या धर्म शक्तिमत् तत्त्व भगवान्की सेवा करना या उनका नित्य आनुगत्य ही है।

हमारा वैदिक धर्म या सात्त्वत आचार्यों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव धर्म ही सनातन धर्म या जीवका नित्य धर्म है। इसी धर्मका आचरण करने पर जीव नित्य शान्ति एवं सुख

प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भागवतमें आत्माके नित्य धर्मका ही वर्णन है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहेतुव्यप्रतिहता यथात्मा सुप्रसीदति ॥
(भा० ११२१६)

अर्थात् जिस उपायके द्वारा इन्द्रिय-ज्ञानातीत श्रीकृष्णके प्रति फलकी आशासे रहिता एवं ऐकान्तिकी, स्वाभाविकी एवं विशुद्ध भक्ति हो, वही जीवमात्रका परम धर्म है। इसीका अनुष्ठान करने पर सभी अनर्थोंसे मुक्त होकर जीव सम्यग् प्रकारसे प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। यह नित्य धर्म देश, जाति, काल भेदसे अलग अलग नामोंसे परिचित होकर भी एक एवं परम उपादेय है। आत्माका यह धर्म विशुद्धएवं नित्य धर्म बहुत ही गूढ़ एवं दुर्बोध है। विना भगवद्गुरुकों या महद् व्यक्तियोंकी कृपा के इस धर्मको जाना नहीं जा सकता। अतएव श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गृहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।

इसी धर्मका उपदेश भगवान् नारायणने तुष्टिके जादिमें विश्वकार्ता प्रक्षाणीको दिया था। यह चतुर्लोकीके रूपमें था। इसी धर्मको वेदोंमें 'ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा' एवं सर्वोपनिषद्-साररूप श्रीमद्गीतामें 'अध्यात्म-विद्या विद्याना' कहा गया है। इसे ही भगवान् श्रीकृष्णने उद्घवजीसे 'धर्मो मदात्मकः' कहा है। इसी धर्म तत्त्वका ज्ञान ब्रह्माजीसे मनु, देवता, ऋषि, मनुष्य आदि सभी व्यक्तियोंने गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया। इसी सनातन धर्म का प्रचार वर्त्तमान कलिकालमें श्रीरामानुज,

श्रीनिम्बादित्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णुवामी आदि वैष्णव आचार्योंने किया था। स्वर्वं श्रीराधाकृष्ण मिलिततनु श्रीकृष्णचेतन्य महाप्रभु एवं उनके अनुगत गोस्वामियों द्वारा प्रचारित 'अचिन्त्य-भेदाभेद' सिद्धान्त इसी सनातन धर्मकी विशुद्ध, परिपूर्णतम् एवं सर्वसामांजस्य-पूर्ण अभिव्यक्ति है।

सत्त्व, रजः, तम—इन तीनों गुणोंसे पृथक् पृथक् प्राप्ति कर विभिन्न व्यक्तियोंने इसके विभिन्न अर्थ किए हैं। अतएव प्रकृति वैचित्र्यसे इस प्राकृत जगत्में नाना मतवाद उदित हुए हैं। जिन लोगोंने ब्रह्माजीसे गुरु-परम्परा द्वारा इस धर्मके यथार्थ तात्पर्यादि प्राप्त किये हैं, उन्होंने ही विशुद्ध मत या धर्म स्वीकार किया है। दूसरोंने मतभेदके कारण एवं महाजनोंके आनुगत्यके अभावमें नाना पाषण्ड मतोंकी अधीनता स्वीकार की है।

पूर्व-पीमांसकोंने बण्ठिम धर्म एवं जागतिक धर्मको ही परम धर्म माना है; साहित्यिक, आलंकारिक आदिने यशको, काम-शास्त्रज्ञोंने कामको, योगवेत्ता जागतिक सत्य, शम, दम, आदिको, दण्डनीतिवाले ऐश्वर्यको, जीविक वैत्तिक वज्रको, त्रौं-ब्रतकारी न्याय-यम-नियमको, त्यागपरायण व्यक्ति दानको, जागतिक सुखकामी लोग इन्द्रिय भोगोंको, आदि आदि। ये सब यथार्थ धर्म नहीं हैं। वे दुष्ट मतवाद धर्मके आभास, धर्मकी छलना, विधर्म या पाषण्ड धर्म मात्र हैं। इन सभी से यथार्थ कल्याण नहीं होता। एकमात्र भक्ति धर्म ही जीवोंका परम धर्म एवं परम कल्याणकारी है।

अन्यान्य श्रेयः समझे जानेवाली साधनोंमें बहुत सी बाधायें एवं दुःखजनक परिणाम वर्तमान हैं। उनके फल भी अत्यंत तुच्छ एवं

नाशवान हैं। इन सब साधनों द्वारा प्राप्ति सुखमें परस्पर स्पर्द्धा, असूया, अनिष्टकी आशंकायें आदि वर्त्तमान हैं।

कर्म-मार्गमें प्रचुर द्रव्य, विस्तृत अनुष्ठान, मंत्रोंका यथाविधि प्रयोग, यथार्थ कर्मकुशलता, मंत्रवेत्ता व्यक्तियोंकी आवश्यकता है। कर्म करनेवालोंसे पाप एवं पुण्य—ये दोनों प्रकार के कर्म होना अनिवार्य है। क्योंकि वे सभी व्यक्ति सत्त्व, रजः, तम आदि त्रिगुणोंके अधीन हैं। इस कर्मको कर्मपरायण ऋषि-मुनियोंने मनोहर मधु-पुण्यित एवं लुभानेवाली जनरोचक भाषाद्वारा साधारण अज्ञ व्यक्तियों के चित्ताकर्दंक बनाया है। पाप कर्म करने-पर जो पाप आदि होते हैं, वे प्रायशिचत्तादिसे दूर होने पर भी पापके मूलस्वरूप पाप-बासना का विनाश नहीं होता। कर्म मार्गमें सर्वदा पतन तथा विपत्तिकी आशंका रहती है। मंत्रोत्तराणमें या अनुष्ठानमें भूल, कुटि या विच्छयित होने पर वे विपरीत फल एवं परिणामको प्रसव करते हैं। यज्ञ, दान, होम आदि प्रचुर द्रव्यके बिना संभव नहीं हैं। कर्म-मार्गमें परस्पर स्पर्द्धा, द्वेष, हिंसा, परोत्पीड़न, परोत्कर्ष-असहिष्यन्ता आदि दोष सर्वदा वर्तमान हैं। कर्ममें भक्तिका अंश युक्त न होने पर वे कर्म स्वयं फल उत्पादन करनेमें असमर्थ हैं। कर्म द्वारा जो क्षणिक सुख प्राप्त होता है, वह क्षयशील एवं दुःखसे संयुक्त है। विशुद्ध सुख कदापि कर्ममार्गमें संभव नहीं है :

ज्ञानमार्गमें उपास्य वस्तुके रूप, गुण, लीला आदि वैशिष्ट्य स्वीकृत न होनेके कारण यह मार्ग अत्यन्त बलेशपूर्ण एवं कठिन-साध्य है। ज्ञानी लोग अपने ध्यानकी स्थिरताके लिए जो कल्पित भगवद् मूर्तिकी सेवा, पूजा